

## पराया धन

### डॉ प्रेम लता चसवाल 'प्रेम पुष्प'

दर्पण कितना सच बोलता है---उज्ज्वल, निर्मल, पाक सत्य! एक मैं हूँ कि उस सत्य से भागने में निरंतर लीन। जानती हूँ उखड़ती साँस में भी भागे जा रही हूँ, उस सत्य को झुठलाने की खातिर, जिससे मेरी रग-रग वाकिफ़ है। उसे मैं अपने लहू में तरल-सा बहा रही हूँ। जिसे मन झुठलाना चाहता है पर आईना ठीठ बच्चे-सा मुंह चिढ़ा कर कहता है कि अपनी स्थिति से समझौता कर, जितना पलायन करेगी उतना ही इस स्वनिर्मित जाल में जकड़ी जाएगी। संस्कारों से तो समझौता ही करना उचित होगा न। पर, ऐसा क्यों?

तो फिर तोड़ क्यों नहीं देती यह मकड़ी का झीना-सा ताना-बाना संस्कारों का? क्यों मकड़ी की ही तरह पतली लरजती टांगों में फिर से उत्साह भर अपने ही चारों ओर घेरा बनाती जा रही हो ---संस्कारों का मज़बूत घेरा! फ़र्ज़ों की कंटीली तारों-जड़ा घेरा! एक मज़बूत चक्रव्यूह रचती जा रही हो आत्म कैद का!

बेपढ़ाव की मंज़िल का अंत क्या आत्म-प्रवंचना होगा! नहीं जानती थी कि जादू का पिटारा बना मेरा मूक प्रयत्न उत्सर्ग की सीढ़ी समझना मेरी सबसे बड़ी मूर्खता होगी! अपने सभी प्रयत्न मुझे संजय की दिव्य दृष्टि प्रतीत हो रहे थे, जिन की पूर्व उपलब्धियाँ विजयोद्घोष का सन्देश लाई हों परन्तु अन्ततः एक असहनीय पीड़ा का रिसता नासूर बन गई हों।

मैं अपनी सहनशक्ति से स्वयं को हर माहौल के काबिल बना आनंदित होती रही हूँ। मन को मार कर प्राप्त की गई उपलब्धियाँ दिव्य-दृष्टि की मानिंद ही तो थी, जिन्हें मैं कंचन की तरह उज्ज्वल मन में सहेजती रही। जब-जब

भी अपने आस-पास वालों से अपनी सहनशीलता की प्रशंसा पाती रही हूँ, तो उसे अपने बुद्धि-कौशल का उत्थान समझ कितनी खुश होती रही हूँ।

परन्तु आज सुबह वाली घटना ने तो मेरे आत्म को ही झिंझोड़ दिया है। चेहरे पर पड़ती झाड़ियां छुपी नहीं रह सकती, क्या ये गहरे पड़ते धब्बे उन सभी अन्तःयातनाओं के चिह्न नहीं हैं क्या, जिन्हें मैं शांत रह झेलती रही हूँ। क्या मैं ही देख पाती हूँ इन्हें दर्पण में या और भी कोई इन्हें मेरे चेहरे पर देख पाता है। मैं तो जब भी कभी माँ की आँखों के कोर्निये में अपना प्रतिबिम्ब देखती हूँ, तो भी उन झाड़ियों को उस अक्स में महसूसती हूँ। फिर माँ क्यों नहीं देख पाती इन गहरे पड़ते धब्बों की स्याही को जिन्हें मैं अक्सर फाउंडेशन क्रीम से छिपाती रहती हूँ। पर ये चकते हैं कि घोर घटाओं से और गहरा जाते हैं, गोरे चेहरे का रंग फीका पड़ता जा रहा है, उस पर ये दाग!

क्यों ये दाग अब उन्हें नहीं दिखाई देते जो सदैव ही ये शिक्षा देते थे, "देखना बेटा! निर्मल काया पर कोई दाग न लगा लेना।"

मैं पूछती हूँ, "ये दाग क्या दाग नहीं? भीतरी रिसते फफोलों का धुआँ जो लगातार मेरी काया को क्षीण करता जा रहा है, जो चेहरे पर दागों-सा पुतता जा रहा, क्यों अब आदर्श-पालकों की आँखों से ओझल है? संस्कारों से जकड़े इस समाज में तथाकथित सुपात्र को कन्या सौंप देना ही क्या काफ़ी है? पात्र-सुपात्र का योग जन्म-पत्रों से मिला कर उसे प्रशस्ति-पत्र मान लेना ही क्या अन्तिम लक्ष्य होता है या इसमें भी कुछ स्वार्थ है समाज के ठेकेदारों का? लड़की थाली का बैंगन बनी डोलती रहे जैसे अब मैं हूँ! कतरा-कतरा खून का मेरी घुटती सांस के साथ पसीने में पिघला जा रहा है। इस नए माहौल में सामंजस्य स्थापित करने के लिए, स्वयं को इनके अनुकूल करने के लिए जो मुझे गँवाना पड़ा है, वह ठंडा पसीना संवेदना-सा उभरता रहा है माथे पर, माँ के ठन्डे स्पर्श की तरह। पर क्या जानूँ कि वह भी अंत में मेरी विद्रोही साँसों को शांत कर पाएगा या नहीं।

वह अंध-विश्वास, वह अटूट प्रेम, वह श्रद्धा का भाव जो मम्मी को मुझे में था, कहाँ खो गया? मुझे लगता है मैं दो टुकड़ों में बँट गई हूँ। एक हिस्सा रोहित में सदा-सदा के लिए समा गया है। मम्मी ने तो मुझे एक बार जतलाया भी था, जब शादी के बाद शुरू-शुरू में मैंने मम्मी से रोहित की शिकायत की थी। तब मम्मी ने कहा था, "न रश्मि तुम कुछ भी कहो, रोहित वैसा लड़का नहीं है, बड़ा समझदार है, बहुत होनहार! तू अब अपना बचपना छोड़।"

बेशक उस समय मम्मी का मुझे में अविश्वास और रोहित में अंध-विश्वास मुझे तब गुदगुदा गए थे। मैं रोहित को बहुत चाहती थी न। पर, तब क्या जानती थी मैं कि मम्मी का रोहित के प्रति अत्याधिक लगाव ही मेरे अहम को ठेस पहुंचाएगा! मेरी आत्मा का हनन करने लगेगा या मेरे सभी अधिकार मुझसे छीन लेगा। मेरे आत्म-सम्मान की कीमत रोहित की वीटो-पावर पर आश्रित होगी, फिर तो मेरे वजूद में मैं ही न रह कर रोहित ही रोहित हो जाएगा।

"बेटा! रश्मि का ध्यान रखना।" जब भी माँ के घर से वापस जाती, हर बार कहती माँ। जैसे कि रश्मि अपंग हो, स्वयं न तो हाथ हिला सकती है, न पाँव। माँ क्या जाने कि रोहित का ब्रश, रेज़र, ड्रेस और तो और अंडरवियर भी मैं बाथरूम में लगाऊँ, तो कहीं रोहित जी तैयार हो पाते हैं। माँ के लिए रश्मि का प्रतिरूप रोहित हो गया। क्यों मम्मी मुझे इतना अस्तित्वहीन क्यों बनाती जा रही हो? अभी मैं पूरी तरह से अपना केवल अपना जीवन जीना चाहती हूँ, यूँ थोपा हुआ जीवन नहीं।

मेरा क्या नहीं है यहां इस घर में? सब कुछ तो मेरा है, मैं आपकी इकलौती लाडली बेटी, जिस चीज़ की इच्छा करती उसकी प्राप्ति ही मेरा लक्ष्य रहा है। हरे रंग के पर्दों से मेल खाती चादरें व सोफ़ेकवर वाला यह सजा-सजाया कमरा नितांत मेरा है, फिर यह घर इसकी एक-एक वस्तु की अकेली वारिस मैं हूँ, तो भी यह सभी मेरा अपना मुझे अपना क्यों नहीं लगता?

मम्मी कहती है, "बहुत नेक लड़का है रोहित, अपने बहन-भाइयों का कितना ध्यान रखता है। मुझे भी सिर-आँखों पर बिठाता है। रश्मि में तो जान है उसकी।"

माँ तुम क्या जानो रोहित कितने अपनों से घिरा रहता है। और मैं तो अब इससे भी अनभिज्ञ नहीं कि ये मेरी संपत्ति भी अब मेरी नहीं रही, इस पर ठप्पा लग चुका है रोहित की नेकी का।

मेरी समझ में नहीं आता कि सांसारिक वृत्तियाँ मनुष्य की स्वार्थपूर्ति के लिए अपनी मर्यादा क्यों छोड़ देती हैं! नेकी का अभिप्रायः दूसरों की संवेदनाओं को आहत करना तो नहीं। रोहित की नेकी ने मेरी इच्छा-अनिच्छा, मेरी निजी व्यथा, मेरी मम्मी का मुझ से असीम लगाव ही मुझसे छीन लिया, फिर मुझसे मेरा अस्तित्व ही झपट लेना, कहाँ की नेकी है?

मन कितना उद्वेलित हो उठता है। कभी-कभी तो एक ही झटके में इस ताने-बाने को तोड़ डालना चाहता है, स्वच्छंद होना चाहता है इन संस्कारों के बंधन से, जो मुझे खोखला व अर्थहीन बनाते जा रहे हैं। मगर चाहत भी क्या मेरी रह गई है? अभी सुबह ही जब मम्मी को मैंने कहा कि मैं अभी रोहित के साथ देहली नहीं जाना चाहती, कुछ दिन उनके साथ देहरादून में ही रहना चाहती हूँ, तो कैसे बोली थी मम्मी तमतमाए चेहरे से, "लड़का क्या होटल की रोटियाँ खाएगा? पागल हो गई हो? पिछले महीने ही तो एक हफ़ता रह कर गई हो। अभी तो रोहित के साथ ही जाओ। देहली में मन न लगा तुम्हारा तो मैं रोहित को फ़ोन कर दूंगी, तुम्हें यहाँ छोड़ जाएगा। और फिर कभी बात टाली है उसने तुम्हारी?"

'आ जाएगा छोड़ने' नहीं मम्मी! वह तुम पर अपनी नेकी का और अहसान चढ़ा जाएगा जो मुझे और हीन-भावना में जकड़ेगा। मुझे मेरी दासता का अहसास तुम भी क्यों करवाती हो मम्मी? मैं अपने घर में अपनी मर्जी से नहीं रह सकती। मम्मी तुम क्यों ऐसी बातें करके मुझे जतलाना चाहती हो कि मेरा सब

कुछ रोहित में नष्ट हो गया है। एकाकार को इतने गलत ढंग से क्यों परिभाषित करती हो कि आनन्द की अपेक्षा में एक हीन भावना में डूब जाऊँ।

तुम्हारा यह दिन-प्रति-दिन रोहित के लिए लगाव और मेरे प्रति वैराग्य मुझे अनजाने में ही रोहित से दूर करता जा रहा है। अब तो मुझे स्वयं से भी शिकायत होने लगी है कि क्यों मैं खुद को अपनी इच्छा के विरुद्ध नए परिवेश में हर परिस्थिति में एडजस्ट करती रही? क्यों अपने ओठों को सी कर बड़े खानदान की बेटी कहलाने की लालसा में अपने आत्म को बौना बनाती गई? क्यों मैंने त्याग के महत्व को सही अर्थों में नहीं पहचाना? मैंने कर्तव्यों की होड़ में अपने अधिकारों को क्यों त्याग दिया? त्यागना ही था तो उन कुरीतियों को त्यागती जो मुझ जैसी हंसती-खेलती लड़कियों के मुंह सी देती हैं, जो रीतियां हमारे अहम को बौना बना दूसरों को अहंकारी बना देती है।

मम्मी कहती है, 'हमने बेटी देकर बेटे-सा जँवाई लिया।' तुम क्या जानती हो माँ, कि तुम्हारी बेटी किसी द्वारा क्या बेटी की तरह अपनायी गई? मम्मी निश्चय ही मैं परित्यक्ता-सी हो गई हूँ, न आर की न पार की! सच कहती हूँ मम्मी कि जैसे तुमने अनजाने में ही इस घर के सभी अधिकारों से वंचित कर दिया है मुझे, वैसे ही मैं उधर से अभी तक वंचित हूँ। घर तो है मगर वे संयुक्त परिवार के भाई-बहन जानते हैं कि मैं बड़े घर की इकलौती बेटी हूँ, मेरी तुम्हारे द्वारा बनाई गई बहुत संपत्ति है फिर वे क्यों मुझे अपनी संपत्ति का अधिकारी बनने देंगे। तुम हो कि हर छोटी-बड़ी चीज़ पर रोहित की मोहर लगाय बैठी हो। मैं तो मानो अधर में लटक कर रह गई। सच मानो मम्मी, मुझे मेरा वजूद हवा में लटकता दिखाई पड़ता है, कभी आँधी आ गई तो चींदा-चींदा बिखेर देगी, तो क्या तब भी तुम यह सोच कर सांत्वना कर लोगी कि बेटी दे कर बेटा लिया है या मेरे बिखरे वजूद को भी समेटने का कुछ यत्न करोगी?

अब समझी क्यों पापा मुझे बेटा-बेटा कह कर बुलाते थे। बेटी का अस्तित्व शायद उन्हें भी स्वीकार नहीं था। जानती हो माँ, रोहित मुझे बहुत चाहता है और मैं भी शायद ही रोहित के बिना रह पाऊँ। फिर यह क्या है अनबूझ पहेली-सा जो कचोटता रहता है। हीन-भावना में मैं घुटती जा रही हूँ। यह द्वन्द्व क्यों

नहीं छोड़ता मेरा मन? हंसती भी हूँ, खाती-पहनती भी हूँ, हर आए-गए को अपनी प्रसन्न आभा ही दिखाने की कोशिश करती हूँ; पर मैं ही जानती हूँ कि एक सूनापन फैलता जा रहा है भीतर-ही-भीतर। तूफान को समेटे हूँ हँसते होंठों पर, फिर चेहरा तो स्याह होना ही है, तुम देख क्यों नहीं पाती इस फीके पड़ते चेहरे को मम्मी!

अब तो लगने लगा है तुमने मेरा बलिदान दे कर एक सबल अवलम्बन ढूँढ लिया है, मेरी शादी के बाद बेटे की माँ होने का मातृत्व तुम महसूस कर रही हो। तुम्हारे संतोषी चेहरे से पता चल रहा है कि तुम पहले से कहीं संतुष्ट हो। मैं देख रही हूँ कि पिछले दो वर्षों से तुम्हारे चेहरे पर से चिंताओं की सभी रेखाएँ मिटती जा रही हैं। रोहित-सा दामाद पा कर तुम्हारा चेहरा दमकने लगा है एक तृप्त अनुभूति से। बेटे की माँ न होने की जो कमी तुम्हारे भीतर थी उसे तुम पाट चुकी हो। तुम्हें रोहित-सा सबल सहारा मिल गया है बुढ़ापे की लाठी-सा। तभी तो जब भी तुम मेरे ननिहाल जाती हो हमें भी साथ ले जाती हो, अपनी खुशी अपने बहन-भाइयों में बांटने को। तो क्या तुम अपने लिए एक सबल सहारा चाहती रही अब तक। मम्मी तुम्हीं बताओ मैं कहाँ की रही; न दीन की न दुनिया की। तुमने मामा-मौसी का प्यार पाया बचपन में, पापा से निर्द्वन्द्व प्रेम यौवन में, अब बुढ़ापा भी रोहित-सा होनहार बेटा दामाद के रूप में पाकर खुशी से काट लोगी; मुझे क्यों आजीवन अकेलापन देती जा रही हो? इस घर की निर्जीव वस्तुओं में मोह रख कर उन्हें मैं अपना मानती रही। उन को भी तुमने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए रोहित की नज़रों में महान बन कर धीरे-धीरे मुझ से जुदा कर दिया है।

चलो, उन्हें छोड़ो, मम्मी! मैं रोहित को जी-जान से पाना चाहती हूँ। केवल रोहित को उसमें किसी तरह का द्वन्द्व न हो; न संबंधों का न सम्पत्ति का। तुम क्यों ज़रूरत से ज़्यादा अनुकम्पा दिखा कर रोहित को मेरी नज़र में स्वार्थी बनाती जा रही हो। इससे मुझे लगता है, मम्मी, कि रोहित जो कुछ भी मेरे लिए करता है उसमें कहीं-न-कहीं उसका स्वार्थ निहित होता है।

में रोहित को निःस्वार्थ भाव से पाना चाहती हूँ। तुम मुझे हमेशा पराधीनता का अहसास न करवाया करो मम्मी! ताकि मैं अंतरमन से किसी को तो अपना कह सकूँ। इन संस्कारों को मेरे पक्ष में एक बार बोलने दो माँ; फिर शायद मैं अपने अस्तित्व को बचा सकूँ! हो सकता है तब मैं अपने बच्चों को अपना समझ सकूँ। मम्मी तुम मुझे अपनी ही बेटी समझो, पराया धन नहीं।

---

कृपया रचनाकार को मेल भेज कर अपने विचारों से अवगत कराये

